International Journal of Creative and Open Research in Engineering and Management
ISSN: **3108-1754 (Online)**
Volume 02 Issue 05 May-2026 | Impact Factor: 3.5

भारतीय ज्ञान परंपरा में प्रमाणमीमांसा : अद्वैत वेदान्त के विशेष संदर्भ में

[1]शोधपत्र लेखक- जीतेन्द्र सिंह दांगी , [2]शोधपत्र-सह लेखिका-ज्योति सोनी ।

[1]छात्र वैदिक अध्ययन विभाग,डॉ हरि सिंह गौर(केंद्रीय) विश्वविद्यालय सागर मध्यप्रदेश ।

[2] शोधार्थी विधि विभाग, बरकतउल्ला विश्वविद्यालय भोपाल मध्यप्रदेश ।

शोधसार

भारतीय ज्ञान परंपरा विश्व की प्राचीनतम, समृद्ध और गहन दार्शनिक परंपराओं में से एक है, जिसमें जीवन, जगत, चेतना और सत्य के स्वरूप को समझने का प्रयास विविध दृष्टियों से किया गया है। इस परंपरा की विशेषता यह है कि यहाँ ज्ञान को केवल बौद्धिक सूचना या तार्किक विश्लेषण तक सीमित नहीं माना गया, बल्कि उसे आत्मानुभूति, अनुभव और जीवन के रूपांतरण की प्रक्रिया के रूप में देखा गया है। भारतीय चिंतन में ज्ञान का अंतिम उद्देश्य केवल बाह्य जगत का अध्ययन नहीं, बल्कि आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार है। इस व्यापक ज्ञान परंपरा में "प्रमाणमीमांसा" का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रमाणमीमांसा वह दार्शनिक शाखा है जो यह निर्धारित करती है कि यथार्थ ज्ञान (प्रमा) की प्राप्ति किस प्रकार होती है, उसके साधन क्या हैं, और उस ज्ञान की सत्यता का निर्धारण कैसे किया जाता है। प्रमाण वह साधन है जिसके द्वारा किसी वस्तु का यथार्थ और निश्चित ज्ञान प्राप्त होता है। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों ने प्रमाणों की संख्या और स्वरूप के विषय में भिन्न मत प्रस्तुत किए हैं। न्याय दर्शन सामान्यतः चार प्रमाणों-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द-को स्वीकार करता है, जबकि मीमांसा और वेदान्त परंपरा में अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को भी प्रमाणों की श्रेणी में सम्मिलित किया गया है, जिससे षट्प्रमाणों की अवधारणा विकसित हुई। इन सभी प्रमाणों का उद्देश्य एक ही है-सत्य और यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति। इस संदर्भ में "अद्वैत वेदान्त" का स्थान अत्यंत विशिष्ट है। अद्वैत वेदान्त भारतीय ज्ञान परंपरा की वह दार्शनिक प्रणाली है, जो यह प्रतिपादित करती है कि अंतिम सत्य केवल ब्रह्म है और जीव तथा ब्रह्म में कोई वास्तविक भेद नहीं है। यह सिद्धान्त उपनिषदों के महावाक्यों जैसे- प्रज्ञानं ब्रह्म, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म पर आधारित है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह अद्वितीय सत्य केवल तर्क या इन्द्रिय अनुभव से प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियातीत, तर्कातीत और अनिर्वचनीय है। जिसका मूल उद्देश्य ब्रह्मज्ञान के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति है। अद्वैत वेदान्त का केंद्रीय सिद्धान्त "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः" इस बात को स्पष्ट करता है कि अंतिम सत्य केवल ब्रह्म है और जीव उस ब्रह्म से भिन्न नहीं है। इस सत्य की अनुभूति केवल बौद्धिक तर्क से नहीं, बल्कि यथार्थ ज्ञान के माध्यम से होती है, जिसके लिए प्रमाणमीमांसा अनिवार्य हो जाती है। अद्वैत वेदान्त सामान्यतः षट्प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि और शब्द—को स्वीकार करता है। इनमें प्रत्येक प्रमाण का अपना विशिष्ट क्षेत्र और सीमा है। उदाहरणतः प्रत्यक्ष केवल इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रदान करता है, अनुमान तर्क पर आधारित होता है, जबकि शब्द प्रमाण श्रुति पर आधारित होता है।

शब्द कुंजी - प्रमाणमीमांसा, प्रमा, प्रज्ञानं ब्रह्म, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म।

प्रमाण-

'प्रमाकरणं प्रमाणम्' प्रमा का करण प्रमाण है[1] प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान के करण को दार्शनिक भाषा में प्रमाण कहते हैं। यहाँ किसी भी कथन की सत्यता का आधार प्रमाण को माना गया है। अन्य दर्शनों के समान वेदान्त दर्शन भी प्रमाणों को मान्यता प्रदान करता है। उसकी दृष्टि में एकमात्र ब्रह्म पूर्णतया सत्य, नित्य एवं पारमार्थिक सत्तावान् है, शेष सम्पूर्ण जगत् भ्रान्ति-भासिक-सत्तावान् होने से अनित्य एवं मिथ्या है (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या)। साथ ही वेदान्तदर्शन व्यावहारिक दृष्टि से सभी सांसारिक वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करता है। अतः उन सभी की सिद्धि के लिए यहां भी अन्य दर्शनों के समान प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। यहाँ इनकी संख्या छः रही है- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अभावप्रमाण।

प्रत्यक्ष प्रमाण

साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम् । साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रियजा । सा च द्विधा सविकल्पकनिविकल्पकभेदात् । तस्याः करणं त्रिविधम् । कदाचिद् इन्द्रियं, कदाचिद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदाचिज्ज्ञानम् । साक्षात्कारिणी अर्थात वस्तु का साक्षात्कार करने वाली प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। और साक्षात्कारिणी प्रमा वह है, जो इन्द्रिय से उत्पन्न होती है। सविकल्पक तथा निविकल्पक के भेद से वह दो प्रकार की होती है। उसके तीन प्रकार के करण होते हैं- (१) कभी इन्द्रिय, (२) कभी इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष और (३) कभी निविकल्पकज्ञान।[2]

प्रत्यक्ष यथार्थ ज्ञान का कारण प्रत्यक्ष प्रमाण को माना गया है। दूसरे शब्दों में इसे प्रत्यक्ष रूप से होने वाला यथार्थ-अनुभव भी कहा जा सकता है। यह अनुभव वस्तु के ज्ञानेन्द्रियों के साथ सम्पर्क के परिणाम स्वरूप होता है। घट-पट आदि कोई वस्तु जब नेत्र आदि इन्द्रिय के सम्पर्क में आती है तो मन एवं बुद्धिरूप अन्तरिन्द्रिय उस वस्तु तक पहुँचते हैं तथा वे उस वस्तु के आकार से आकारित हो जाते हैं। इस स्थिति में व्यक्ति को निश्चयात्मिकाबुद्धि द्वारा उसके घट (घड़ा) अथवा पट (कपड़ा) होने का यथार्थज्ञान होता है। इस प्रत्यक्षप्रक्रिया में वस्तु का इन्द्रिय के साथ सम्पर्क होना अत्यावश्यक है। जिसके परिणामस्वरूप 'चित्' आभास से आभासित अन्तःकरणवृत्ति अपने वस्तुविषयक अज्ञान को विनष्ट कर देती है और हमें वस्तु का सथार्थप्रत्यक्ष (ज्ञान) होता है।

वेदान्तदर्शन के अनुसार यह प्रत्यक्ष ठीक वैसा ही होता है, जैसा कि किसी दीपक का प्रकाश वहाँ फैले अन्धकार को अपने प्रभाव से विनष्ट भी करता है तथा वहाँ स्थित घट आदि वस्तुओं को प्रकाशित भी करता है। इस सम्पूर्ण व्यापार में चिवृत्ति अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करती है। जिसे पञ्चदशीकार ने इसप्रकार प्रतिपादित किया है- **"बुद्धितत्स्थाचिदाभासो द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्। तत्राज्ञानं धिया पश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्।।"** वस्तुओं का यह प्रत्यक्ष निर्विकल्पक एवं संविकल्पकभेद से दो प्रकार का होता है। **तच्च प्रत्यक्षं द्विविधं, सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्।** वस्तु के नाम, रूप, जाति, योजना आदि से रहित ज्ञान निर्विकल्पक होता है। जो वस्तु के प्रथम ज्ञान के समय होता है। तदनन्तर उसके नाम, रूप, जाति, गुण आदि से युक्त ज्ञान को सविकल्पक कहा गया है। प्रत्यक्ष ज्ञान विषयक यह प्रक्रिया सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थों के सम्बन्ध में होती है। इसके विपरीत ब्रह्म-साक्षात्कार आदि के सम्बन्ध में इसमें आंशिक भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। घटादि सांसारिक पदार्थों के अचेतन होने से उन्हें भासित करने का कार्य चिवृत्ति को करना पड़ता है। जबकि ब्रह्म के स्वयं चेतन तथा ज्योतिस्वरूप होने के कारण उसके साक्षात्कार में चिवृत्ति द्वारा ब्रह्मगत अज्ञान नष्ट कर दिये जाने पर ब्रह्मतत्त्व स्वयं ही प्रकाशित हो उठता है। इस प्रत्यक्ष में इन्द्रियों का विषय से सन्निकर्ष नहीं होता है। इस प्रकार इन्द्रिय सन्निकर्ष के आधार पर वेदान्त दर्शन में प्रत्यक्ष के दो भेद कहे जा सकते हैं (1) इन्द्रियजन्य तथा (2) इन्द्रियाजन्य। सुखदुःख आदि का प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय अजन्य ज्ञान (प्रत्यक्ष) की कोटि में आता है, क्योंकि सुख-दुःख आदि भी बाह्य सांसारिक पदार्थों के समान नहीं हैं, अपितु वे अन्तःकरण के धर्म हैं। अतः अन्तःकरण द्वारा ही उनका प्रत्यक्ष होता है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वेदान्त दर्शन में बुद्धि एवं मन को इन्द्रिय की कोटि में नहीं रखा गया है। इसी कारण सुख-दुःख का प्रत्यक्ष यहाँ इन्द्रिय अजन्य कहा गया है।[3]

वेदान्त में प्रत्यक्ष पद चैतन्य अर्थ में रूढ़ है। इसका भी कारण कहा जा सकता है न्याय में चचित प्रत्यक्ष-लक्षण के निष्कृष्ट रूप- **'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्** अर्थात जिस ज्ञान के उत्पन्न होने में कोई दूसरा ज्ञान करण न बना हो में निहित धारणा अन्य ज्ञान के अधीन न होना, स्वतन्त्र ज्ञान होना की पराकाष्ठा-रूप स्वयंप्रकाशत्व की धारणा को। अपनी उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति के लिये किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा न रखना, किसी का ज्ञेय या प्रकाश्य न होते हुए अपरोक्ष व्यवहार के योग्य होना स्वयंप्रकाशत्व है ऐसा **नित्सुखाचार्य** ने **तत्त्वप्रदीपिका** में तथा **मधुसूदनसरस्वती** ने **अद्वैतसिद्धि** में निरूपित किया है। 'स्वयंप्रकाशत्व ही चित्व है' ऐसा चैतन्य का निरूपण भामतीकार ने किया है। और 'यस्साक्षात् श्रुति में स्वयं-प्रकाश चित्तत्त्व को प्रत्यक्षपदार्थ कहा गया है[4]

अनुमान प्रमाण

वेदान्तशास्त्र की दृष्टि में दूसरा प्रमाण अनुमान है। **लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् । येन हि अनुमीयते तदनुमानम् । लिङ्गपरामर्शन चानुमीयतेऽतो लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्**' । लिङ्गपरामर्श' को ही अनुमान कहते हैं। क्योंकि जिससे 'अनुमिति' (अनु पश्चात् मितिः प्रमितिः) की जाती है, उसे 'अनुमान' कहते हैं। 'लिङ्गपरामर्श' से अनुमिति की जाती है, इसलिये 'लिङ्गपरामर्श' को 'अनुमान' कहते हैं।[5] अनेकशः अनुमिति भी प्रमा अर्थात् यथार्थ-अनुभव (ज्ञान) का कारण बनती है। अतः इसे प्रमाण की कोटि में रखा गया है। इसका मुख्य हेतु व्याप्ति ज्ञान की स्वीकार किया गया है। किन्हीं दो पदार्थों का दैनिक जीवन में हमेशा एक साथ देखना तथा कभी भी विपरीत स्थिति के दर्शन न करना ही **'व्याप्ति'** कहलाती है। जिस प्रकार हम अपने दैनिक जीवन में हमेशा धूम और अग्नि के साहचर्य के दर्शन करते हैं। अर्थात् जहाँ-जहाँ भी हमें धूम दिखायी देता है, वहाँ-वहाँ हमें अग्नि अवश्य दृष्टिगोचर होती है। हमें ऐसा कभी भी देखने को नहीं मिला कि धुओं तो हो, किन्तु अग्नि वहाँ न मिली हो। इस प्रकार का व्यभिचार (नियम का वैपरीत्य) रहित दर्शन करने पर हमारे मन में यह बात दृढ़रूप से स्थापित हो जाती है कि **'यत्र यत्र धूमः, तत्र तत्र वह्निः।** दृढ़रूप में स्थापित यही सिद्धान्त, यही मान्यता दर्शन की भाषा में व्याप्ति कहलाती है। इसी व्याप्ति के सहयोग से जब हम एक या दो किलोमीटर की दूरी पर स्थित पर्वत में धुआँ उठता हुआ देखते हैं तो हम निःशंक होकर कह उठते है की यह पर्वत अग्नि वाला है।' यद्यपि उस अग्नि का हम प्रत्यक्ष नहीं कर रहे हैं कि 'यह पर्वत पर अग्नि हैं, वह हमें दिखायी नहीं दे रही है, तथापि हमारे कथन में सत्यता है, वह प्रामाणिक है तथा इसे प्रमाणित करने वाला प्रमाण ही अनुमानप्रमाण है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि न्यायदर्शन के समान वेदान्त अन्वय व्यतिरेक व्याप्तियों को स्वीकार नहीं करता है। यहाँ केवल अन्वय-व्याप्ति ही आवश्यक है, क्योंकि इनके मत में व्यतिरेक व्याप्ति अभाव को सिद्ध करती है, भाव को नहीं। अतः यहाँ उसकी व्यर्थता स्वतः सिद्ध है। अभाव को सिद्ध करने के लिए वेदान्तदर्शन 'अनुपलब्धि' नामक प्रमाण को मान्यता प्रदान करता है, जिसका हम आगे उल्लेख करेंगे। इसलिए अनुमान प्रमाण में वेदान्ती लोग न्यायदर्शन के समान पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग न करके केवल तीन अवयवों में ही व्याप्ति एवं पक्षधर्मता की सिद्धि स्वीकार करते हैं जैसे-

(क) यह पर्वत वह्नि वाला है **(पर्वतोऽयं वह्निमान्)** प्रतिज्ञा वाक्य

(ख) क्योंकि यह धूमवान् है **(धूमवानोऽयम्)** हेतु वाक्य

(ग) जहाँ जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसाकि रसोईघर **(यत्र यत्र घूमः तत्र तत्र वह्निः यथा महानसः)** उदाहरण वाक्य

अतः यहाँ तीन अवयवों में ही पक्षधर्मता की सिद्धि हो जाती है। किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं साधन-धूम एवं साध्य अग्नि का साहचर्य देखकर व्याप्ति ग्रहण करके दूर पर्वतप्रदेश में उठते हुए अग्नि के लिङ्ग (चिह्न) धूम को देखकर स्वयं ही वहाँ अग्नि की उपस्थिति का 'निश्चय' अनुमानप्रमाण द्वारा किया जाता है। अतः इसे स्वार्थानुमान की श्रेणी में रखा जाएगा। इसके विपरीत यदि यही ज्ञान अज्ञानीव्यक्ति को किसी ज्ञानी व्यक्ति द्वारा कराया जाता है तो इसी प्रक्रिया से गुजरने पर वह परार्थानुमान की कोटि में माना जाएगा। परार्थानुमान में व्यक्ति स्वयं अनुमान नहीं करता, अपितु किसी अन्य को उसका ज्ञान कराने के लिए त्रि-अवयवी वाक्यों का उसीप्रकार ग्रहण करता है। इसी आधार पर अनुमानप्रमाण के दो भेद कहे गये हैं- स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। इसमें परार्थानुमान का प्रयोग वेदान्ती प्रायः ब्रह्मभिन्न सम्पूर्णजगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए करते हैं।[6]

उपमान प्रमाण

गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुएमानम्। जैसी गाय, वैसा गवय- इस 'अतिदेश' वाक्य के अर्थ का स्मरण करने के साथ 'गोसादृश्यविशिष्ट पिण्ड' (गाय की समानता से युक्त पिण्ड-शरीर यानी आकृति) अर्थात् 'गवय पशुप्राणी' का ज्ञो ज्ञान होता है, वही 'उपमान' प्रमाण है।[7] उपमान उपमान सादृश्य के आधार पर प्रमा के कारण स्वरूप 'उपमान' को भी वेदान्त दर्शन स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान करता है। उनकी उपमान विषयक

यह परिकल्पना लगभग नैयायिकों के समान ही है। इस प्रक्रिया में हम पहले देखी गई किसी वस्तु की समानता के आधार पर अन्य वस्तु का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार इस प्रमाण का मुख्य हेतु अधवा आधार सादृश्य है, जो हमें यथार्थ ज्ञान (प्रमा) कराता है।

वेदान्त दर्शन में भी न्याय दर्शन के समान ही इस प्रमाण को समझाने की दृष्टि से गो एवं गवय को उदाहरण रूप में लिया है। इस प्रमाण को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझाया जा सकता है। किसी व्यक्ति का लड़का किसी दूसरे शहर में जाने की तैयारी कर रहा है। उसके मार्ग में एक जंगल पड़ता है। व्यक्ति अपने लड़के को समझाते हुए कहता है कि-बेटा। जंगल में 'गवय' से सावधान रहना। लड़का पूछता है-बापू। गवय कैसा होता है? इसपर व्यक्ति जवाब देता है कि तुमने गाय देखी है? बस वैसा ही गवय होता है, जो खतरनाक होता है। उससे बचकर रहना चाहिए। पिता की बात सुनकर यह लड़का जंगल से गुजरता है और वह गाय के समान दिखायी देने वाले एक जानवर को देखता है। उसे देखकर उसे अपने पिता द्वारा बतायी गई सभी बातें याद आती हैं और वह समझ जाता है कि यहीं गवय है। इस यथार्थज्ञान के होने पर वह उसकी दृष्टि में बिना पड़े सावधानी पूर्वक निकल जाता है। इसप्रकार 'गवय गाय के समान होता है', ऐसा ज्ञान प्राप्त किया हुआ, वह लड़का 'गवय' के दिखायी देने पर 'यह प्राणी ही गवय है', ऐसा निश्चय कर लेता है। अतः यथार्थ ज्ञान (प्रमा) कराने में यहाँ सादृश्य (उपमान) की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इसी कारण इसे उपमान प्रमाण कहा गया है।[8]

शब्दप्रमाण

वेदान्त शास्त्र में आगम अर्थात् शब्दप्रमाण को भी मान्यता प्रदान की गई है। **आप्तवाक्यं शब्दः।** आप्तपुरुष के वाक्य को 'शब्द' प्रमाण कहते हैं। यथाभूत (जैसा पदार्थ हो वैसा) अर्थ का ही उपदेश करने वाला पुरुष 'आप्त' कहलाता है। और उसके वाक्य को 'शब्द्' प्रमाण कहा जाता है।[9] इतना ही नहीं यह दर्शन निर्गुण, निराकार एवं शाश्वत-सत्ता ब्रह्म का ज्ञान कराने में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि प्रमाणों को असमर्थता स्वीकार करते हुए एकमात्र आगम प्रमाण को ही सार्थक मानता है। वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्म का ज्ञान कराने में एकमात्र आगम प्रमाण ही समर्थ प्रमाण है। अन्य किसी प्रमाण से इसके अस्तित्व की सिद्धि असम्भव है। तद्नुसार वेद एवं श्रुतिवचनों को अपौरुषेय मानकर उन्हें शब्दप्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार करना चाहिए। भूमिका यहाँ इन्होंने शब्द को पौरुषेय एवं अपौरुषेय दो श्रेणियों में रखा है। पौरुषेय लौकिक एवं अपौरुषेय वैदिक वाक्य हैं।

वेदान्तदर्शन के आचार्यों ने अपनी बात को सिद्ध करने के लिए, उसकी पुष्टि एवं समर्थन के लिए हेतु के रूप में पद-पद पर श्रुतिवचनों को उद्धृत किया है, क्योंकि उनके मत में श्रुति (आगम) से प्रबल एवं उत्कृष्ट कोई अन्य प्रमाण नहीं है। अतः वेदान्त की दृष्टि में वेद (श्रुति) का स्वतः प्रामाण्य सिद्ध होता है। इनके मत में सूर्य के प्रकाश के समान वेद स्वतः सिद्ध हैं, उन्हें प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। स्मृति, पुराण, इतिहास आदि भी वेदसम्मत होने से स्वतःप्रमाण की ही श्रेणी में आते हैं। बेदान्तदर्शन वेदमन्त्रों को विभिन्न ऋषियों द्वारा दर्शन किए हुए मानता है। उसके मत में वेदमन्त्र किसी की रचना नहीं है। अतः इनके अपौरुषेय होने में संशय करना उचित नहीं है। शङ्कराचार्य के अनुसार वेद दीपक के समान सत्य का प्रकाशन करने वाले है।[10]

शब्द को सुन कर (या उसकी सङ्केतरूपा अक्षरकाया को देखकर उसके अर्थ का ज्ञान होना जन्य ज्ञानों की प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि कोटियों से सर्वथा पृथक् है। यथार्थ ज्ञान के विविध साधनों में शब्द भी अन्यतम अवश्य है, अतः यह प्रमाणों में भी अन्यतम है। थोत्र इन्द्रिय से शब्द का ध्वनि रूप से ही ग्रहण होता है, किसी अर्थ के प्रत्यायक ध्वनि-सङ्घटन-विशेष रूप से नहीं। ध्वनि की आनुपूर्वी के आधार पर वक्ता के अभिप्राय को समझना, अथवा किसी अज्ञात वस्तु या तथ्य को जान लेना अन्य सभी ज्ञान-विधाओं से विलक्षण है। इसके अतिरिक्त बेदान्त में इसी (शब्दप्रमाण) का महत्त्व सर्वाधिक है, क्योंकि अन्य किसी भी प्रमाण से जानी न जा सकने वाली (**'यत्तदद्रव्यमग्राह्यं 'यन्मनसा न मृनुते...' 'येन सर्वमिदं विदितं भवति तं केन विजानीयात्'**) वस्तु (ब्रह्म) जो कि वेदान्त की एक-मात्र प्रतिपाद्य है, तथा चिन्तक चिन्तन-चिन्त्य सभी कुछ की मूलभूत है, इसी एक प्रमाण से जानी जाती है। वैयाकरण दार्शनिकों ने शब्द ब्रह्म को ही मूल तत्त्व माना, मण्डनमिश्र तथा तदनुयायी वेदान्तियों ने भी ब्रह्म को परमा वाक् रूप तथा जगत् को वाग्विवर्त कहा, तथा तत्त्व-प्रेप्सु के प्रति श्रुति भी प्रकट हुई – **'शब्दब्रह्मणि**

निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति'। इस कारण वावतत्त्व को ब्रह्माधिगम के लिए सर्वप्रमुख आलम्बन समझा गया । इसीलिए वाक्तत्त्व के लौकिक-पारमार्थिक दोनों रूपों का विश्लेषण समेटे हुए शब्द-प्रमाण का वेदान्त में सर्वाधिक महत्त्व है।[11]

अर्थापत्ति प्रमाण

अर्थापत्ति को अलग से प्रमाण रूप में मान्यता प्रदान की गई है। **अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् 'अर्थापत्तिः'।** अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना करना 'अर्था-पत्ति' कहलाती है। **पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति दृष्टे श्रुते वा रात्रिभोजनं कल्प्यते। दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वं रात्रिभोजनमन्तरेण नोपपद्यतेऽतः पीनत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिरेव रात्रिभोजने प्रमाणम् । तच्च प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं, रात्रिभोजनस्य प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात् ।** मीमांसक अथवा वेदान्तो, 'नैयायिक' से कहता है कि 'अर्थापत्ति' भी तो एक पृथक् प्रमाण है। अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना करना 'अर्था-पत्ति' कहलाती है। जैसे- 'देवदत्त दिन में नहीं खाता है, परन्तु मोटा है।' यह देखने पर या सुनने पर उसके रात्रिभोजन की कल्पना कर ली जाती है क्योंकि दिन में न खाने वाले का मोटा होना, 'रात्रिभोजन किये बिना उपपन्न नहीं हो सकता। अतः 'अन्यथा (रात्रिभोजन के बिना) पीनत्व की अनुपपत्ति ही उसके रात्रिभोजन में प्रमाण है।[12]

वेदान्त दर्शन के अनुसार कार्य को देखकर उसके कारण की परिकल्पना करना ही अर्थापत्ति कही गई है अर्थस्य आपत्तिः अर्थापत्तिः अथवा प्रत्यक्षरूप में कार्य कारण में दिखायी देने वाले विरोध के परिहार के लिए कार्य के औचित्य की दृष्टि से अन्यकारण की परिकल्पना को ही अर्थापत्ति माना गया है। देवदत्त मोटा है, किन्तु दिन में भोजन नहीं करता है इत्यादि वाक्य में देवदत्त का मोटापन भोजन के अभाव में सम्भव नहीं है। अतः प्रत्यक्षरूप से कार्य-कारण में विरोध प्रतीत होता है। इसके परिहार के लिए अर्धीचित्य की दृष्टि से अन्यकारण यदि वह दिन में नहीं खाता तो अवश्य ही रात्रि में खाता होगा इस अर्थ की परिकल्पना वेदान्तियों के मत में अर्थापत्तिप्रमाणका विषय है। उनके अनुसार व्यक्ति का रात्रिभोजन प्रत्यक्षप्रमाण का विषय हो नहीं सकता, क्योंकि उसे भोजन करते हुए किसी ने प्रत्यक्षतः देखा ही नहीं है। साथ ही व्याप्ति के अभाव में अनुमानप्रमाण का भी यह क्षेत्र नहीं होगा। इसी प्रकार शब्द एवं उपमान प्रमाण भी सादृश्य आदि के अभाव में सम्भव नहीं है। अतः इसके लिए अर्थापत्तिप्रमाण को मानना आवश्यक है।

अर्थापत्ति के दो भेद माने गए हैं (1) दृष्टार्थापत्ति (2) श्रुतार्थापत्ति । इनमें दृष्टार्थापत्ति के अन्तर्गत वस्तु या व्यक्ति को देखकर विरोध के परिहार के लिए स्वयं अन्य कारण की परिकल्पना की जाती है। जैसे उक्त उदाहरण में प्रतिदिन देवदत्त के दिवाभोजन को न देखकर, उसके स्थूलत्व को देखते हुए व्यक्ति स्वयं ही उसके रात्रिभोजनरूप अर्थ को परिकल्पना कर लेता है। अतः यह दृष्टार्थापत्ति प्रमाण का विषय कहलाएगा। इसके विपरीत इसी विषय को स्वयं न देखकर किसी अन्य व्यक्ति से देवदत्त का स्थूलत्व एवं दिवाभोजन का अभाव सुनकर उसके रात्रिभोजन की परिकल्पना श्रुतार्थापत्ति का विषय कहलाएगी। इसीको अन्य उदाहरण द्वारा भी इसप्रकार समझ सकते हैं। जीवित श्याम नामक व्यक्ति घर में नहीं है। अतः वह घर से बाहर होगा। उसका घर से बाहर होना रूप अर्थ श्रुतार्थापत्ति का विषय माना जाएगा।[13]

अनुपलब्धि प्रमाण

अनुपलब्धि अभावरूप अर्थ की सिद्धि के लिए वेदान्त दर्शन अनुपलब्धि नामक प्रमाण को मान्यता प्रदान करता है। **नन्वभावाख्यमपि पृथक् प्रमाणमस्ति । तच्चाभावग्रहणायाङ्गीकरणीयम् । तयाहि घटाद्यनुपलब्ध्या घटाद्यभावो निश्चीयते । अनुपलब्धिश्चोपलब्धेरभावः । इत्यभावप्रमाणेन घटाद्यभावो गृह्यते ।** मीमांसकों में भाट्ट मीमांसक और वेदान्ती 'अभाव' संज्ञक प्रमाण भी पृथक् मानते हैं। क्योंकि 'अभाव पदार्थ' (प्रमेय) के ज्ञान (ग्रहण) के लिये उस 'अभावप्रमाण' (अनुपलब्धि प्रमाण) को अवश्य स्वीकार करना चाहिये । क्योंकि घटादि पदार्थ की अनुपलब्धि से घटादि पदार्थ के अभाव का ग्रहण (ज्ञान) होता है। वेदान्ती तथा भाट्टमतानुयायी मीमांसकों का कहना

है कि **'भूतले घटों नास्ति'** कहने पर घट के 'अभाव' का ज्ञान होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। इसका अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः उस 'अभाव' का ज्ञान जिस साधन से होता है, उसे 'अभावप्रमाण' कहते हैं।[14]

संख्या की दृष्टि से इस दर्शन में यह छटा प्रमाण है। वेदान्तदर्शन किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति के अभाव को कारण जन्य न होने के कारण प्रत्यक्ष आदि पूर्व में कहे गए पाँच प्रमाणों द्वारा ज्ञान कराने में असमर्थ मानता है। उनके मत में घट का अभाव इन्द्रियसन्निकर्ष के अभाव में प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। व्याप्ति सम्बन्ध के अभाव में इसे अनुमान द्वारा भी ग्रहण नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार सादृश्यज्ञान न होने से घट के अभाव के ज्ञान को उपमान प्रमाण से भी स्वीकार नहीं कर सकते हैं। साथ ही शब्दप्रमाण भी आप्त वाक्य के अभाव में वस्तु के अभाव रूप ज्ञान को कराने में सक्षम नहीं है। अतः इसके लिए अनुपलब्धि' रूप छठे प्रमाण को मान्यता प्रदान करना आवश्यक है। इस प्रसङ्ग में यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि वेदान्त दर्शन घट आदि पदार्थों के अभाव के ज्ञान में अनुपलब्धि से अभिप्राय सामान्य अनुपलब्धि से नहीं, अपितु योग्य अनुपलब्धि से ग्रहण करता है। इनके मत में-अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा इन्द्रिय आदि द्वारा प्रत्यक्ष करने योग्य घट-पट आदि के अभाव का ज्ञान ही सम्भव है, ऐसे पदार्थ जो इन्द्रियों की पहुँच से बाहर हैं पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म आदि के अभाव को इस प्रमाण द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है। इनके मत में यह अनुपलिब्ध अर्थात् अभाव चार प्रकार का होता है-(1) प्राग्-अभाव (2) प्रध्वंस अभाव (3) अत्यन्त अभाव तथा (4) अन्योन्य अभाव। इन चारों प्रकार का अभावों को हम अनुपलब्धिप्रमाण से ही ग्रहण कर सकते हैं।

किसी भी वस्तु की उत्पत्ति से पहले अपने कारण में स्थितिरूप अभाव का ज्ञान प्राग्-अभाव है जो अनुपलब्धिप्रमाण द्वारा ही ग्राह्य होगा। जैसे-घट के निर्माण से पूर्व वह अपने कारणरूप मृत्पिण्ड में विद्यमान रहता है, किन्तु दृश्यमानजगत् में उसका अभाव प्रतीत होता है। अतः इस अभाव को केवल अनुपलब्धि प्रमाण से ही ग्रहण कर सकते हैं। इसी प्रकार किसी वस्तु के निर्माण के बाद कारण विशेष से विनष्ट होने के पश्चात् होने वाले अभाव को प्रध्वंसाभाव कहा जाएगा जो अनुपलब्धि प्रमाण से ही ग्रहण किया जा सकता है। जैसे घट के बनने के बाद किसी व्यक्ति द्वारा उसे डण्डे से तोड़ देने के परिणामस्वरूप होने वाला अभाव प्रध्वंसाभाव होगा। इसके अतिरिक्त जो भूत-भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में विद्यमान रहने वाला है, इस प्रकार के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं जिसे हम अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा ही ग्रहण कर सकते हैं। इस अभाव को वायु में रूप के अभावरूप उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है, क्योंकि वायु में रूप (दिखायी देने) का गुण नहीं होता और यह अभाव तीनों कालों में रहने वाला है। अतः अत्यन्ताभाव की कोटि में आएगा। चतुर्थ, अन्योन्याभाव एक वस्तु में दूसरी वस्तु के अभाव को कहते हैं। जैसे घट में कभी भी पट विद्यमान नहीं रह सकता। अतः इसप्रकार के अभाव का ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'अनुपलब्धि' नामक षष्ठप्रमाण की आवश्यकता होगी ही, क्योंकि उक्त चारों प्रकार के अभातों के ज्ञान को हम प्रत्यक्षादि शेष पाँच प्रमाणों द्वारा ग्रहण नहीं कर सकते हैं।[15]

निष्कर्ष

भारतीय ज्ञान परंपरा में प्रमाणमीमांसा का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। ज्ञान की सत्यता, उसकी प्राप्ति के साधन तथा यथार्थ बोध की प्रक्रिया का व्यवस्थित विवेचन भारतीय दर्शन की प्रमुख विशेषता रही है। विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं ने प्रमाणों की संख्या एवं स्वरूप के विषय में अपने-अपने मत प्रस्तुत किए हैं, किन्तु सभी का मूल उद्देश्य सत्य एवं यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति ही रहा है। अद्वैत वेदान्त के विशेष संदर्भ में प्रमाणमीमांसा का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि यहाँ प्रमाण केवल लौकिक ज्ञान प्राप्ति के साधन नहीं हैं, बल्कि आत्मज्ञान एवं मोक्ष के साधन भी हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र परम सत्य है तथा जीव और ब्रह्म में कोई वास्तविक भेद नहीं है। इस अद्वैत सत्य का बोध अविद्या के नाश द्वारा ही संभव है और इस अविद्या-नाश में प्रमाणों की अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अद्वैत वेदान्त सामान्यतः षट्प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि—को स्वीकार करता है। प्रत्येक प्रमाण का अपना विशिष्ट क्षेत्र और महत्व है। प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रियजन्य अनुभव के माध्यम से वस्तुओं का ज्ञान कराता है, अनुमान तर्क और व्याप्ति पर आधारित होकर अप्रत्यक्ष ज्ञान प्रदान करता है, उपमान सादृश्य के आधार पर ज्ञान उत्पन्न करता है, अर्थापत्ति विरोध-परिहार हेतु अनिवार्य कल्पना का साधन है तथा अनुपलब्धि अभाव के ज्ञान का प्रमाण है। इन सभी में "शब्द प्रमाण" को विशेष स्थान प्राप्त है, क्योंकि ब्रह्म

इन्द्रियातीत एवं तर्कातीत होने के कारण केवल श्रुति के माध्यम से ही जाना जा सकता है। अद्वैत वेदान्त में प्रमाणमीमांसा केवल तार्किक विमर्श नहीं है, बल्कि यह आध्यात्मिक साधना और आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया से भी जुड़ी हुई है। यहाँ ज्ञान का उद्देश्य बाह्य पदार्थों की जानकारी भर नहीं, बल्कि आत्मा के वास्तविक स्वरूप का बोध है। इस प्रकार भारतीय ज्ञान परंपरा की प्रमाणमीमांसा आधुनिक ज्ञानमीमांसा की अपेक्षा अधिक व्यापक, समग्र और आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है।

सन्दर्भ सूचि

1. केशवमिश्र। (1995). *तर्कभाषा* (डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, व्याख्या). चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला। पेज 11
2. केशवमिश्र। (1995). *तर्कभाषा* (डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, व्याख्या). चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला। पेज 60
3. सदानन्दयति। (2004). *वेदान्तसारः* (डॉ. राकेश शास्त्री, व्याख्या). परिमल पब्लिकेशन्स। पेज 73
4. शर्मा, उ. (1978). *अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान* (पृ.132). छन्दस्वती प्रतिष्ठान।
5. केशवमिश्र। (1995). *तर्कभाषा* (डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, व्याख्या). चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला। पेज 110
6. सदानन्दयति। (2004). *वेदान्तसारः* (डॉ. राकेश शास्त्री, व्याख्या). परिमल पब्लिकेशन्स। पेज 74
7. केशवमिश्र। (1995). *तर्कभाषा* (डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, व्याख्या). चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला। पेज 179
8. सदानन्दयति। (2004). *वेदान्तसारः* (डॉ. राकेश शास्त्री, व्याख्या). परिमल पब्लिकेशन्स। पेज 75
9. केशवमिश्र। (1995). *तर्कभाषा* (डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, व्याख्या). चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला। पेज 185
10. सदानन्दयति। (2004). *वेदान्तसारः* (डॉ. राकेश शास्त्री, व्याख्या). परिमल पब्लिकेशन्स। पेज 76
11. शर्मा, उ. (1978). *अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान* (पृ.372). छन्दस्वती प्रतिष्ठान।
12. केशवमिश्र। (1995). *तर्कभाषा* (डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, व्याख्या). चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला। पेज 208
13. सदानन्दयति। (2004). *वेदान्तसारः* (डॉ. राकेश शास्त्री, व्याख्या). परिमल पब्लिकेशन्स। पेज 77
14. केशवमिश्र। (1995). *तर्कभाषा* (डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, व्याख्या). चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला। पेज 212
15. सदानन्दयति। (2004). *वेदान्तसारः* (डॉ. राकेश शास्त्री, व्याख्या). परिमल पब्लिकेशन्स। पेज 78
16. http://egyankosh.ac.in//handle/123456789/122347
17. https://egyankosh.co.in/page/103852
18. भारतीय दर्शन : उपमान प्रमाण
19. प्रमाण (भारतीय दर्शन) - विकिपीडिया